International Journal of Hindi Research
www.hindijournal.com
ISSN: 2455-2232
Received: 23-11-2021, Accepted: 08-12-2021, Published: 24-12-2021
Volume 7; Issue 6; 2021; Page No. 90-94

ओमप्रकाश वाल्मीकि की कहानियों में निहित दलित चेतना का स्वरूप

सदानंद वर्मा
शोधार्थी, जामिया मिल्लिया इस्लामिया, नई दिल्ली, भारत

सारांश
ओमप्रकाश वाल्मीकि दलित साहित्य के अग्रणीय रचनाकार हैं। दलित समाज और उनकी परिस्थितियों को लेखक ने न केवल देखा ही है बल्कि उसके सुख–दुःख को भलीभांति जिया भी है। उनके लेखन में दलित जीवन के अनुभव, संघर्ष, जिजीविषा, समानता, बंधुत्व व भाई–चारे की भावना को निरूपित करती हुई दिखाई पड़ती है। उनकी कहानियों में जहाँ जीवन के द्वन्द्वों और उनसे जूझते पात्रों का चित्रण दिखाई पड़ता है तो वहीं, अपने स्व से टकराते या बचकर निकल जाने की चेष्टा करते कुछ चरित्र भी हैं। दलित जीवन के विभिन्न आयामों को प्रस्तुत करने वाली इन कहानियों में मानवीय सरोकारों और संवेदनाओं को महत्ता दी गयी है। निश्चित तौर पर ओमप्रकाश वाल्मीकि की पीड़ा, दर्द, संघर्ष यथार्थ को प्रकट करती हैं। चूंकि उनकी मुखरता अंबेडकरवादी चेतना को ग्रहण किए हुए है। इसीलिए उनकी संवेदनाएँ दलित संवेदनाओं के यथार्थ स्वरूप को प्रस्तुत कर पाने में सफल हो पाती है।

मूलशब्द: अम्बेडकरवादी चिंतन, दलित चेतना, समानता, स्वन्त्रता, अस्मिता, न्याय की पक्षधरता, वर्ण व्यवस्था, प्रतिरोध

प्रस्तावना

हिन्दी साहित्य की समकालीन चिंता और चिंतन का मुख्य विषय स्त्री चेतना, आदिवासी चेतना व दलित चेतना को माना जाय तो यह गलत नही होगा। बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में इस बुनियादी चेतना ने साहित्य की समाजिकी को पाठ के सहारे नए सिरे से पढ़े जाने और समझे जाने के लिए एक विमर्श खड़ा किया है। इसमें पौराणिकता, परंपरा, विरासत, कथा–विषय, नायक–नायिका चित्रण आदि सभी को एक नए सिरे से जाँचने और परखने की मांग इन विमर्शों के अंतर्गत देखने को मिल रही है। इसके अतरिक्त यह परंपरावादी सैद्धांतिकी और सौंदर्यशास्त्र को पुनः नए सिरे से परिभाषित करने की न केवल वकालत करती है, बल्कि साहित्य में मानव को केंद्र में रखते हुए उसे स्वतन्त्रता, समानता व बंधुत्व के साथ–साथ उसके अधिकारों को प्राप्त करने की मांग भी करती है।

दलित चेतना को जानने से पूर्व हमें सर्वप्रथम यह जान लेना आवश्यक है, कि 'दलित' शब्द है क्या? यह शब्द किस वर्ग या जाति के संदर्भ में प्रयोग किया जाता रहा है।

शब्दकोशों में दलित शब्द का अर्थ दलन या दमन किया हुआ, मसला हुआ, रौंदा हुआ, कुचला हुआ, सताया हुआ आदि प्राप्त हुआ है। अर्थात् भारतीय समाज में दलित शब्द उन वर्गों के लिए प्रयोग होता रहा है जो अछूत है, अंत्यज है, अस्पृश्य हैं व शोषित हैं। कुसुम मेघवाल के शब्दों में कहें तो "दलित शब्द का शाब्दिक अर्थ है, कुचला जाना। अतः दलित वर्ग का सामाजिक संदर्भों में अर्थ होगा वह जाति समुदाय जो अन्याय पूर्वक सवर्णों या उच्च जातियों द्वारा दमित किया गया हो, रौदा गया हो। दलित शब्द का प्रयोग हिंदू समाज व्यवस्था के अंतर्गत परंपरागत रूप में शूद्र माने जाने वाले वर्णों के लिए रूढ़ हो गया है, दलित वर्ग में वे सभी जातियां सम्मिलित हैं जो जातिगत सोपान के क्रम में निम्न स्तर पर हैं जिन्हें सदियों से दबा कर रखा गया है ।"[1] स्पष्ट है कि 'दलित' शब्द भारतीय समाज में उन वर्गों के लिए प्रयोग किया जाता रहा है जिनका कई वर्षों से समाज के उच्च वर्गों द्वारा न केवल शोषण या दमन किया जाता रहा है बल्कि उन्हें अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, रोजगार की स्वतंत्रता एवं शिक्षा के अधिकार जैसे मानवीय मूल्यों से भी वंचित रखा गया है। साथ ही साथ समाज में उन्हें हमेशा घृणित व उपेक्षित नजरों से ही देखा जाता रहा है। दलित चेतना समग्रतरू इन्हीं विचारों से प्रभावित होकर अपने साहित्य में मनुष्य को प्राथमिकता देते हुए उसे ही समाज में सर्वश्रेष्ठ घोषित करने का प्रयास करती है। यह मूलतः संघर्ष से उपजी है जो परंपरागत व रूढ़िगत व्यवस्थाओं को एक सिरे से नकारती है, जो समाज में पाखंड, कुरितियों, जातिगत भेद–भाव, पारंपरिक संस्कारों में दिखाई पड़ते हैं।

दलित चेतना की पड़ताल करते हुए डॉ. एन. सिंह लिखते हैं कि "दलित साहित्य का शब्द सौंदर्य प्रहार में है, सम्मोहन में नहीं। वह समाज और साहित्य में शताब्दियों से चली आ रही इस सड़ी–गली परंपराओं पर बेदर्दी से चोट करता है। वह शोषण और अत्याचार के बीच हताश जीवन जीने वाले दलितों को लड़ना सिखाता है, वह सिर पर पत्थर ढोने वाली मजदूर महिला को उसके अधिकारों के विषय में बतलाता है। उसे धर्म की भूल–भुलैया से निकालकर शोषण से मुक्ति का मार्ग दिखाता है ।"[2] दलित चेतना एक प्रति सांस्कृतिक चेतना है। इसीलिए इसमें विद्रोही भी है। इस चेतना की जड़ में भारतीय सामाजिक संरचना स्थापित है, जो न सिर्फ जाति पर आधारित है बल्कि इसे धार्मिक वैधता भी प्रदान करती है। जाति व्यवस्था सामाजिक दुराव के सिद्धांत पर आधारित है। यह हमारे सामाजिक संबंधों को ही नहीं बल्कि धार्मिक, राजनीतिक व सांस्कृतिक पक्षों को भी प्रभावित करती है। यह गुलामी की संपूर्ण व्यवस्था है। दलित चेतना का सीधा सरोकार 'मैं कौन हूं?' से बहुत गहरे संवेदनाओं के साथ जुड़ा हुआ है। चेतना का संबंध 'दृष्टि' से होता है, इसलिए दलित चेतना, दलितों की सांस्कृतिक, ऐतिहासिक और सामाजिक स्तर पर नकार दिये जाने अर्थात् दलित होने और उसके अस्तित्व की पहचान के साथ–साथ उसके मानवीय अधिकारों से अवगत कराती है।

दलित चेतना के आंदोलन को जन्म देने में कई व्यक्तियों का योगदान रहा है। प्राचीन समय में जहां गौतम बुद्ध ने इस अमानवीय व्यवस्था को नकारते हुए इसमें सुधार के लिए उल्लेखनीय कार्य किया, तो वहीं भक्ति काल के कवियों में भी यह आंदोलन एक अलग दृष्टि के रूप में दिखाई पड़ता है। इस क्रम में वहीं बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ज्योतिबा फूले और डॉ. भीमराव अंबेडकर के संघर्षों व विचारों के रूप में एक अलग

आंदोलन का निर्माण होता है। जहाँ डॉ. भीमराव अंबेडकर का जीवन संघर्ष दलितों में एक नई चेतना का सूत्रपात करते हुए उन्हें एक नई दिशा देते हए दिखाई पड़ता है जिसे मुक्ति संघर्ष की चेतना कहना ज्यादा प्रासंगिक होगा। यही चेतना साहित्य की प्रेरणा बनकर आज दलित साहित्य के रूप में दिखाई भी पड़ रहा है जिसमें मुक्ति व स्वतंत्रता के गंभीर सरोकार विद्यमान हैं। दलित चेतना से उपजे दलित साहित्य में अनीश्वरवाद, अनात्मवाद, पाखंड–कर्मकांड का विरोध, सामाजिक न्याय की पक्षधरता, वर्ण व्यवस्था का विरोध, सामंतवाद का विरोध, पूंजीवाद व बाजारवाद का विरोध, सांप्रदायिकता का विरोध, ब्राह्मणवाद का विरोध, अधिनायकवाद का विरोध जैसे सवाल दलित साहित्य के सरोकार में शामिल हैं।

भारत में सामाजिक परिवर्तन लाने की दिशा में हिन्दू समाज के कुछ विद्वत लोगों ने भी अपने–अपने तरीकों से उल्लेखनीय कार्य किया, जिसे अन्देखा नहीं किया जा सकता। इस क्रम में 'ब्रह्म समाज', 'प्रार्थना समाज', 'आर्य समाज' और 'रामकृष्ण मिशन' आदि प्रमुख हैं। 'ब्रह्म समाज', 'प्रार्थना समाज' 'आर्य समाज' और 'रामकृष्ण मिशन' ये चारों हीं संगठन हिन्दू समाज में सुधार की दृष्टि से स्थापित किए गए, जिनका उद्देश्य समाज में व्याप्त कुरीतियों को समाप्त कर एक नए समाज की स्थापना करना रहा। इस दिशा में राजा राममोहन राय द्वारा 1828 ई. में स्थापित 'ब्रह्म समाज' एक सामाजिक, धार्मिक आंदोलन के रूप में स्थापित हुआ, जिसका प्रमुख उद्देश्य समाज में धार्मिक एकता बनाए रखते हुए रुढ़िवादी कुरुतियों व स्थापित अमानवीय परम्पराओं को समाज से दूर करना था; तो वहीं दूसरी तरफ आत्माराम पांडुरंग व केशवचंद्र सेन की सहायता से स्थापित 'प्रार्थना समाज' का कार्य ईसाई मिशनरियों के प्रभाव से मुक्ति दिलाने के साथ–साथ हिंदू समाज के बौद्धिक और आध्यात्मिक पुनरुत्थान की ओर कार्य करना रहा। इनकी महत्वपूर्ण स्थापनाएँ यह थी कि ईश्वर अवतार नहीं लेता और न ही ऐसी कोई पुस्तक है जिसे ईश्वर ने रचा हो। 'आर्य समाज' एवं 'रामकृष्ण मिशन' के माध्यम से स्वामी दयानंद सरस्वती और स्वामी विवेकानन्द ने एक बड़े और व्यापक स्तर पर भारतीय समाज में फैली कुप्रथाओं, परम्पराओं और रुढ़िवादी मान्यताओं को दूर करने का प्रयास किया। इन समाज सुधारकों ने हिन्दू संस्कृति की रक्षा करते हुए उनकी प्राचीन विरासतों को फिर से अपनाने की बात की। इस क्रम में दयानंद सरस्वती का यह कथन 'वेदों की ओर लौटो' प्रमुख है। इसी समय 24 सितंबर 1873 ई. में ज्योतिबा फुले ने 'सत्यशोधक समाज' की स्थापना की। ज्योतिबा फुले द्वारा किए गए तमाम कार्य हिंदू समाज में पारंपरिक, धार्मिक स्थापनाओं के एकदम विरूद्ध था। स्त्री शिक्षा, अस्पृश्यता निवारण, मनुष्य को मनुष्य का दर्जा देना आदि उनके लिए अधिक महत्वपूर्ण था। 'ब्रह्म समाज', 'आर्य समाज', 'प्रार्थना समाज' और रामकृष्ण मिशन तथा ऐसे ही अनेक सामाजिक सुधार संस्थाओं की अपेक्षा 'सत्यशोधक समाज' एकदम अलग ही अपने विचारधाराओं को लेकर चल रहा था। जिसमें उन सामाजिक, धार्मिक मान्यताओं, रुढियों व पाखंडों को दूर करने की एक पहल तो दिखाई ही पड़ती ही है साथ ही साथ समाज में नीच, शुद्र, दलित, अवर्ण, अन्त्यज कहे जाने वाले लोगों के लिए सम्मान और उनके अधिकारों को लेकर बात करने की पहल दिखाई पड़ती है। समाज में शोषण, अत्याचार, भेद–भाव, अमानवीय तथा छुआ–छूत का जीवन बिताने वाले दलितों की दिन–दशा और उनके जीवनचर्या पर सत्यशोधक समाज ने एक व्यापक कार्य किया। इसी कार्य का एक विस्तृत और गंभीर रूप डॉ. अम्बेडकर के समाज सुधार आन्दोलनों व उनके विचारों में दिखाई पड़ती है।

आधुनिक समय और समाज में डॉ. अम्बेडकर का योगदान सराहनीय रहा है। उन्होंने न केवल उस समाज को जगाने और उन्हें चेतानाप्रद बनाने का एक महत्वपूर्ण कार्य किया बल्कि स्वयं भी उन सभी मान्यताओं और पखानों को दूर करते हुए दिखाई पड़ते हैं जो समाज में दलितों की दयनीय स्थिति को बनाएं रखने एवं उन्हें आशावादी जीवन जीने के लिए मजबूर करती हैं। उन्हें इस बात की जानकारी हो गई थी कि सामाजिक रुढियों और उन मान्यताओं को तेगे बिना उन्हें एक आम आदमी की तरह जीवन व्यतीत करना दुर्लभ है। यही कारण है कि उन्होंने धम्मचक्र परिवर्तन दिवस 14 अक्टूबर 1956 ई. के दिन 22 प्रतिज्ञाओं को स्वीकार करते हुए दिखाई पड़ते हैं, जिनमें कुछ प्रमुख बिन्दू हैं –

- मैं ऐसी कोई भी धारणा को स्वीकार नही करता, जहाँ ईश्वर या देवी–देवता को अवतारीय रूप में माना जाता है।
- मै भाग्य को नहीं मानता हूं।
- मै आत्मा को नहीं मानता, पुनर्जन्म की स्थापना को नहीं मानता, लिंग भेद को नहीं मानता, वर्ण व्यवस्था व जातिगत भेद–भाव को नहीं मानता।
- मै देश में समानता व बंधुत्व का पक्षपाती हूं। बंधुत्व की स्थापना, समाजिक न्याय की स्थापना, नए भाषा, नए प्रतीक व नए बिम्ब की स्थापना, कर्मकांड का विरोध, वैज्ञानिकता, तार्किकता पर जोर दूँगा ।

इन उपरोक्त बिन्दुओं को आधार बनाकर ही दलित लेखन में दलित चेतना जैसे बिन्दू का स्वरूप दिखाई पड़ता है। यही कारण दलित चेतना के अंतर्गत किसी भी तरह की धार्मिक जकड़बंदी व समाजिक, सांस्कृतिक कुरुतियों का स्पष्ट नकार हुआ है। तथा समाज में समानता, स्वतंत्रता, एकता, बंधुत्व और भाई–चारे की स्थापना करने पर जोर दिया जा रहा है।

प्रसिद्ध दलित समीक्षक कंवल भारती लिखते हैं, कि "दलित साहित्य वह है जो दलित मुक्ति के सवालों पर पूरी तरह अंबेडकरवादी है। सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक सभी क्षेत्रों में उसके सरोकार वह हैं जो अंबेडकर के थे।"[3] डॉ. आंबेडकर का मानना रहा है कि जिस चिंतन में मनुष्य और मनुष्य का सर्वांगीण विकास ही केंद्र में हो वही दलित चेतना का मुख्य केंद्र बिंदु होगा। ओमप्रकाश वाल्मीकि की कहानियों का फुले–अम्बेडकरी चिन्तन और उनके सिद्धांतों के आधार पर पड़ताल किया जाए तो उनकी कहानियां दलित चेतना की कसौटी पर खरी उतरती हुई दिखाई पड़ती हैं; जहां वे स्वयं दलित समाज से जुड़े होने के साथ–साथ उस वर्ग की पीड़ा, दुरूख–दर्द, हताश, अमानवीय व्यवहार के लगभग सभी रूपों को न केवल देखा ही बल्कि उन्हें अपने जीवन में झेला भी। यही कारण है कि सामाजिक षड्यंत्रों, पाखंडों और जातिदंश की पीड़ा को अपनी लेखनी में समर्थ शब्द प्रदान कर पाने में सफलता पाई है। जिनका अध्ययन करने के उपरांत उस वर्ग की एक–एक दशा और यथार्थता सामने आने लगती है।

ओमप्रकाश वाल्मीकि ने अपनी कहानियों के माध्यम से जहाँ एक ओर दलितों की गरीबी, भुखमरी, असमानता, भेद–भाव आदि से उपजे असंतोष, पीड़ा, दुःख जैसे मूल्यों को उठाने का प्रयास किया है। तो वहीं इन परिस्थितियों से स्वयं को बचाने, अपने अधिकार व सम्मान को पाने की चाह लिए निरंतर संघर्षशील जीवन जीने वाले दलित पात्रों की उपस्थिति भी दिखाई पड़ती है। ओमप्रकाश वाल्मीकि समाज की स्थिति को जानते हैं। वे समाज की मान्यताओं, रीती–रिवाजों से भलीभांति परिचित हैं। यही कारण है कि उन्होंने 'सलाम' कहानी के माध्यम से जहाँ एक ओर परम्परावादी दलित पात्रों का सृजन करते हैं जो उन मान्यताओं और पाखंडों को ढोता हुआ दिखाई पड़ता है, तो वहीं दूसरी ओर प्रगतिशील और चेतनायुक्त दलित पात्रों का सृजन भी करते हैं जो इन पाखंडों और झूठी मान्यताओं के आधार पर अपने अधिकार और अस्मिता से निरंतर वंचित रहते हैं। 'सलाम' कहानी मे उन्होंने दिखाया है कि दलित समाज में होने वाली

शादियों में ससुराल से दुल्हन को घर लाने से पहले पूरे गाँव में दूल्हे को सलाम की रश्म को निभाने के लिए गाँव के उच्च जातियों के दरवाजे पर जाना पड़ता है, जो कि उनके समाज की प्रथा थी। लेकिन कहानी का मुख्य पात्र हरीश इस रिवाज को मानने से न केवल इंकार करता है। बल्कि वह इस प्रकार के सभी रिवाजों के पीछे के साजिशों को समझाते हुए हुए कहता है, कि "मैं इस रिवाज को आत्मविश्वास तोड़ने की साजिश मानता हूँ।"[4] हरीश के इस प्रकार के निर्णय से घर व बिरादरी के बूढ़े–बुजुर्ग परेशान हो जाते हैं। तथा उसे समझाते हुए कहते हैं कि "बाप–दादों की रीत है, एक दिन में तो ना छोड़ी जावे है। सलाम पे तो जाणा ही पड़ेगा। और फीर जल में रहकर मगरमच्छ से बैर रखना ठीक नही है। और इसी बहाने कपड़ा–लत्ता, बर्तन–भाड़े भी नेग–दस्तूर में आ जाते हैं।"[5] हरीश के पिता और हरीश दोनों जागरूक और चेतानाप्रद दलित पात्र हैं। उन्हें पता है कि ये रीती–रिवाज व उसमें मिलाने वाले नेग–दस्तूर सब एक सोची समझी चाल है, जो सदियों से इसकी आड़ में उनके खिलाफ एक ऐसा भावात्मक जाल बुना जाता रहा है जिससे निकल पाना संभव नहीं हो पाता। इन रीती–रिवाजों और परम्पराओं के कारण ही वह निरंतर गुलामी, शोषित और छलाव का शिकार होते रहते हैं। तथा समाज में उन्हें वह स्थान भी नहीं मिलता जो एक आम व्यक्ति को मिलनी चाहिए। यही कारण है कि हरीश या उसके जैसे सभी जागरूक पात्र न केवल इस प्रकार के रुढ़िवादी मान्यताओं और रीती–रिवाजों को ख़ारिज करते हुए दिखाई पड़ते हैं बल्कि वे इसके पीछे के षड्यंत्रों और साजिशों का पर्दाफाश भी करते हुए नजर आते हैं। चूँकि भारतीय समाज में व्याप्त इस रुढ़िवादी मान्यताओं को तोड़ने में निश्चित तौर पर दलित समाज के भी कितने ही बड़े–बुजुर्ग घृणित और पाप समझते हैं। ऐसा उन्हें इस लिए समझ में आता है क्योंकि वे हिन्दू संस्कृति और रुढ़िवादी मानसिकता से ग्रसित लोग हैं। यही कारण है कि वे उन मान्यताओं को ढ़ोने, उन्हें अपने जीवन में आत्मसात करने के पक्ष में ही खड़े दिखाई पड़ते हैं। उन्हें ईश्वरवादी, आशावादी, भाग्यवादी, परम्परावादी बने रहने में ही प्रशन्नता होती है। भले ही वे गरीबी, भुखमरी, असहाय व पीड़ित जीवन क्यों न जी रहे हों। समाज के इन्हीं साजिशों को समझते हुए ही तो बाबा साहब ने गांवों को भारतीय गणतंत्र की अवधारणा का शत्रु माना। उनके अनुसार हिंदुओं की ब्राह्मणवादी और पूंजीवादी व्यवस्था का जन्म भारतीय गांव में होता है। भारतीय गांव हिंदू व्यवस्था के कारखाने हैं। उनमें ब्राह्मणवाद, सामंतवाद और पूंजीवाद की साक्षात अवस्थाएं देखी जा सकती हैं। उनमें स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व के लिए कोई स्थान नहीं। भारतीय गांव ब्राह्मणों के लिए स्वर्ग हो सकता है परंतु दलितों के लिए तो वह नरक ही है।[6]

किसी भी व्यक्ति के अन्दर चेतना का प्रसार होने पर वह न केवल उस अपने जीवन को परिष्कृत करने के बारे में सोचने लगता है। बल्कि उसे अपने आस–पास घटने वाली प्रत्येक घटना के अच्छे व बुरे, सकारात्मक व नकारात्मक आदि पहलुओं पर तर्कपूर्ण विचार करने की एक समझ बनने लगती है। यही कारण है कि 'बैल की खाल' कहानी के मुख्य पात्र काला और भूरा जो कि गाँव में मरे हुए पशुओं को गांव से हटाने एवं उनकी खल उतर कर उनसे अपने परिवार के परवरिश का कार्य करते हैं। किन्तु जैसे ही उन्हें अपने इस कार्य पर विचार करने का मौक़ा मिलता है, वैसे ही उनकी इच्छा इस कार्य को छोड़ने की होने लगती है। उन्हें अब मालूम होने लगता है कि निश्चित तौर पर वह गाँव की सफाई और गाँव की सेवा करने में अपनी भूमिका निभाते हैं। किन्तु उन्हें यही पता चलने लगता है कि इसी कार्य को करने से उनको न तो समाज में कोई इज्जत मिलती है और न ही उन्हें कोई अपने पास ही बैठता है। इस कहानी में ओमप्रकाश वाल्मीकि ने भूरे नामक पात्र के माध्यम से इस बात को पुख्त करने के लिए एक लम्बे संवाद का रूप प्रस्तुत किया है जहाँ काले के द्वारा इस काम को छोड़े जाने की बात को सुनकर यह प्रश्न करना उसकी ग्रामीण समाज से जुडाव और यथास्थिति को बनाए रखने की कवायद दिखाई पड़ती है। इसीलिए वह काले से यह जानना चाहता है, कि "क्यों... जो हमने इस काम को छोड़ दिया तो करेगा कौण। क्या मरे हुए ढोर–डंगर गाँव में ही पड़े सड़ते रहेंगे।"[7] इस पर भूरे तिलमिलाता हुआ कहता है, "सदने दे. .. इस सड़ांध में हम गले–गले तक डूब जाते हैं। किसे परवाह है. .. कोई अपने धोरे (पास) बि ना बैठावे है।"[8] काले के अन्दर इस प्रकार की सोच अचानक या अकारण नहीं हुई है बल्कि सदियों से चली आ रही उस व्यवस्था जिसमें वह बिना किसी पारिश्रमिक मूल्य के निरंतर सेवारत रखता है। इसके बावजूद भी उसे कोई सम्मान, अधिकार या पहचान नहीं मिलाती तब उसे अपने इस जीवन के बारे में सोचने पर विवश होना पड़ता है जहाँ वह अपने आप को ठगा हुआ, उलझा हुआ पाता है। यही कारण है कि वह उन सभी कार्यों को त्याग देना चाहता है जो उसे नीचा दिखने, असमानता, भेद–भाव का जीवन जीने के लिए मजबूर करते हैं। ओमप्रकाश वाल्मीकि का पात्र काला इसी सोच से निर्मित हुआ है। जब उसे अपने अधिकारों के बारे में पता चलता है, जब उसे अपने सम्मान का ख्याल आता है वैसे ही वह उन सभी कार्यों का परित्याग करना संभव समझने लगता है जो उसके अधिकारों व अस्मिता के रास्ते में रोड़ा की तरह दिखाई पड़ते हैं।

ओमप्रकाश वाल्मीकि कृत 'अम्मा' कहानी दलित चेतना के विभिन्न रूपों को चित्रित करती हुई दिखाई पड़ती है। कहानी की मुख्या पात्रा 'अम्मा' चूहड़े जाति से सबंध रखती है जो अपने जवानी के दिनों से लेकर बुढ़ापे तक के जीवन में लोगों के घरों व गुस्लखानों की सफाई करते हुए अपना जीवन निर्वहन करती हुई दिखाई पड़ती है। तथा इन कार्यों से जो थोड़े बहुत रुपए–पैसे प्राप्त होते हैं उनसे अपने बच्चों का पालन–पोषण व उनकी पढ़ाई–लिखाई में खर्च करती है। दलित समाज की यह बिडम्बना रही है कि पुरुष से शराब व जुआ उन्हें खैरात में मिल जाते हैं। वह इनके बिना अपने को अधूरा महशुस करता है। चाहे वह मेहनत मजदूरी करने वाला हो या घर पर खाली बैठा हो। आम्मा के घर की भी कुछ ऐसी ही हालत दिखाई पड़ती है; जहाँ पति द्वारा कर्ज में डूबे रहने के कारण लोग दरवाजे पर अपने कर्ज लेने के लिए रोज आते और अपशब्द शब्दों में खरी–खोंटी सुना कर जाते। ऐसी स्थिति में किसी भी परिवार का संतुलन लड़खड़ाना आम बात है।

अम्मा एक समझदार, अनुभवी और प्रगतिशील विचारों से लैश दलित महिला हैं। यही कारण है कि वह अपने घर की ऐसी दयनीय स्थिति होने के बावजूद वह इन परिस्थितियों से हार नही मानती। बल्कि कड़ी मेहनत करते हुए वह अपने लड़कों को इस सड़ांधता से दूर निकलना चाहती हैं। क्योंकि उन्हें पता है कि इस सड़ांधता में रह कर उनका जीवन कभी भी सुखमय नहीं बन सकता। वह अपने बच्चों की अच्छी परवरिस के लिए लगातार काम करती रही। उन्हें सदैव उन गंदगियों से दूर रखा जो उन्हें भंगीपन या अछुतपन होने की पहचान करवाते हैं। वह उन्हें पढ़ा–लिखाकर एक इज्जतदार इंसान बनाना चाहती है, ताकि उन्हें समाज में सम्मान मिल सके और वे सम्मान से अपने पैरों पर खड़े होकर अपना जीवन निर्वहन कर सकें। यही कारण है कि जब उन्हें अपने सपने बिखरते हुए दिखाई पड़ते हैं। तो वह चिल्लाती हुई अपने छोटे बेटे से कहती हैं जब वह बैण्डपार्टियों के समूह में जाना चाहता है, "मैं कितने दफे तैन्ने समझा–समझा के हार गई... तैन्ने नचणिया नहीं बनना है। अपनी चच्चा की तरियों सड़कों पे बैंड बाज़्जे वालों की गैल पें–पें करता घूमेगा। उसकी हालत देक्खी है...फेफड़ों में जान न है उसके। सांस ढोकनी की तरियों चले है... और तू उसकी लैन पे चल रहा है... पढ़–लिख के आदमी बणजा ...किसी दफ्तर में किलरक (क्लार्क)

नही तो चपरासी ही लग जाएगा। इस गंदगी से तो छूट जाएगा। जहाँ न दो टेम की रोट्टी ढंग से मिले है, न इज्जत। गले–गले तक कर्ज में डूबे हैं। तेरे बाप कू तंख्वाह बाद में मिले, सरदार प्रीतम सिंह आके पहले खड़ा हो जावे। घर–बाहर कहीं भी दो घड़ी का चौन ना है। रोज–रोज की किटकिट...बस यों ही ज़िंदगानी है कि कोई धीरे भी न बैठावे। जैसे छूत की बीमारी लग जावेगी।"[9] इस कहानी में अम्मा नामक पात्र के माध्यम से लेखक ने उन सभी दलित स्त्रियों को प्रदर्शित करने की वकालत की है जो किसी भी परिवार या समाज को व्यवस्थित आकृति प्रदान करने के लिए अपनी महती भूमिका निभाती हैं। वह समाज में गरीबी, भुखमरी और दुःख को तो झेलती ही है साथ ही साथ एक स्त्री की पीड़ा जिसे वह अपने घर और बाहर दोनों जगह झेलनी पड़ती है। साथ ही दलित स्त्रियों के लिए जातिगत दंश इत्यादि जैसे तमाम अमानवीय पीड़ाओं के बावजूद वह न केवल अपने आप को सुदृढ़ बनाए रखती है बल्कि अपने परिवार, बाल–बच्चों के लिए भी आदर्श भूमिका निभाती हुई दिखाई पड़ती है। निश्चित तौर पर दलित स्त्रियों के लिए अपने जीवन में चुनौतियाँ ही चुनौतियाँ दिखाई पड़ती हैं।

चेतना की स्थिति मनुष्य को केवल जागरूक व प्रगतिशील ही नहीं बनाती बल्कि वह उसे प्रतिरोध करना भी सिखाती है। 'यह अन्त नहीं' के माध्यम से लेखक ने इन्हीं बिन्दुओं को उद्घाटित करने का प्रयास किया है। इस कहानी में बिरमा एक गरीब दलित लड़की है जिससे रास्ते में सचीन्दर, जो गाँव के जमीदार तेजभान सिंह का बेटा है उसके साथ छेड़खानी करता है। अचानक अपने ऊपर होने वाली इस तरह की घटना से बिरमा जैसे–तैसे तो वहाँ से बच निकलती है। किन्तु अपने भाई किसन के ढाढस दिलाने पर वह अपने ऊपर हुए इस तरह आत्मघाती और अमानवीय प्रहार के खिलाफ रपट लिखवाने पहले तो वह थाने का सहारा लेती है। किन्तु वहां उसे निराशा ही हाथ लगाती है। वह हिम्मत नहीं हारती इसीलिए वह अपने गाँव के पंचायत में अपने ऊपर हुए अपराध के खिलाफ न्याय की मांग करती है और उसे यह पूरा विश्वास होता है कि उसे वहाँ न्याय जरुर मिलेगी। किन्तु जब वहां पर भी उसे निराशा ही हाथ लगती है तो वह रोते हुए अपने भाई किसन से कहती है "किसन भैया ठीक कहते हैं पंचायत में नियाय ना होता, जात–बिरादरी देखी जावे है। गुंडागर्दी होती है पंचायत के नाम पे।"[10] यहाँ बिरमा के मुख से निकलने वाले एक–एक कथन प्रासंगिक दिखाई पड़ते हैं। जहाँ गाँव में सवर्ण, आर्थिक्व सुविधा सम्पन्न लोगों का ही बोल–बाला अधिक देखने को मिलता है। पंचायत, थाना, न्याय व्यवस्था आदि सब कुछ उसके अपने अधिकार से जुड़े होते हैं। वह जब चाहे, जिसे अपनी शक्तियों का इस्तेमाल करके इन मायावी जालों में फसा सकता है और बात जब दलित समाज कि की जाए तो उनके लिए तो यह आम बात रही है।

सवर्ण समाज के लिए चाहे वह दलित पुरुष हो या स्त्री सदैव इन्हें तुक्ष और अपने हाथ की कठपुतली के रूप में ही समझा जाता रहा है। तभी तो बिरमा जैसी लड़कियों को अपने हवश का शिकार बनाते उन्हें देर नहीं लगती। उन्हें मालूम है कि दलित स्त्रियों को अपने वश में करना तथा उनके साथ छेड़छाड़ करना आसान है। इसका यथार्थ प्रमाण इस कहानी में दिखाई भी पड़ता है जब तेजभान अपने बेटे सचीन्दर को इस घृणित कार्य के लिए डाटने की बजाय उसे प्रोत्साहित करते हुए यह कहता है, "अबे! कुछ करना ही था तो हरामजादी को खेत में ही घसीट लेता... खुद ही किसी को मुंह दिखाणे जोगी ना रहती।"[11] सवर्ण समाज अपने ताकत और बाहुबलियत के दम पर हमेशा से अमानवीय कार्यों को करता रहा है। वह जब भी अपने अनुकूल मौका देखता है तो उसे वह अपने हाथ से जाने नहीं देना चाहता। ऐसी घटनाएँ हम समाज में आए दिन देखते रहते हैं। विलाशी और कामुक प्रवृति वाले सवर्ण पुरुषों के लिए दलित स्त्रियाँ केवल और केवल भोग्या, विषय और इस्तेमाल की वस्तु के रूप में ही दिखाई पड़ती हैं। यदि बिरमा जैसी कोई जागरुक या चेतानाप्रद स्त्री उनके खिलाफ आवाज उठाने का कार्य करती हैं तो न केवल उनके साथ अमानवीय व्यवहार किया जाता है बल्कि हमेशा–हमेशा के लिए उनकी आवाज को दबा देने की एक सोची समझी साजिश रच दी जाती है। ओमप्रकाश वाल्मीकि ने इस कहानी के माध्यम से इन्हीं बिन्दुओं को रेखांकित करने का प्रयास किया है।

समाज की यथार्थ स्थिति एवं उसमें रहने वाले सवर्ण लोगों की मानसिकता को लेखक भलीभांति समझता है, इसीलिए वे एक चिन्तन के लिए मंच तैयार करना चाहता है। ताकि दलित समाज की स्थिति–परिस्थितियों एवं उनके जीवन के इन कारणों की पड़ताल किया जा सके। दलित समाज और व्यक्ति पाने अधिकारों को लेकर सचेत हो सकें। तथा अपनी अस्मिता, समाज में अपने सम्मान के लिए आगे बढ़ सकें। ओमप्रकाश वाल्मीकि के चिन्तन पद्धति के सम्बन्ध में बजरंग बिहारी तिवारी का कथन प्रसंगानुसार प्रतीत होता है, जहाँ वे लिखते हैं, कि "वाल्मीकि की आकांक्षा एक तर्कशील, विवेकसम्मत और मानवीय समाज बनाने की है। इसकी प्राप्ति में उन्हें जो भी बाधाएं नजर आती हैं उसे वे रेखांकित करते चलते हैं। अस्मितावाद से शुरू कर सार्वभौम मनुष्यता तक पहुँचना उनका गंतव्य जान पड़ता है।"[12] स्पष्ट है, कि ओमप्रकाश वाल्मीकि ने अपनी कहानियों के माध्यम से उन सभी दलित व्यक्तियों को जगाने का प्रयास किया है जो निरंतर इस समाज की साजिशों में स्वयं को उलझा हुआ महसूस करता है।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि ओमप्रकाश वाल्मीकि की कहानियां दलित चेतना के सभी बिन्दुओं को आत्मसात की हुई नजर आती हैं। उनकी कहानियों में जहाँ एक ओर परम्परावादी सोच और विचार को धारण किए हुए पात्र की सृष्टि दिखाई पड़ती है तो वहीं दूसरी ओर प्रगतिशील व जागरुक पात्र भी देखने को मिलते हैं। इससे कहानियों की यथार्थता में अनावश्यक तत्वों का समावेश नहीं हो पाता। कहानियों में प्रस्तुत पात्रों के अन्दर आए चेतना के संचार से उन पात्रों में अपने अधिकार व सम्मान को लेकर अपने अन्दर अंतर्द्वंद की स्थिति उत्पन्न होती है जो उन्हें संघर्ष के लिए प्रेरित करती है। यही संघर्ष उन्हें मानवीय मूल्यों की स्थापना करते हुए समाज में बंधुत्व और भाई–चारे की पहल करने की प्रेरणा प्रदान करती है जो उनका अंतिम लक्ष्य भी है। यह सत्य भी है कि दलित समाज में जैसे–जैसे चेतना और जागरूकता का प्रसार हो रहा है, वैसे–वैसे इस समाज ने न केवल अपने जीवनचर्या को बदलने का प्रयास किया है। बल्कि वे सभी कार्य जो उन्हें गुलामी, शोषण, गरीबी, भुखमरी के जीवन को जीने के लिए मजबूर करती रही हैं। उन सभी को वह अपने जीवन से दूर करता जा रहा है। इन्हीं बदलाव के क्रम में वह अपने आपको निरंतर समृद्ध बनाता जा रहा है। आज वह पढ़ लिखकर सम्मान से जीने की चाह लिए दिखाई पड़ रहा है। चेतना के विकास से ही उसमें अच्छे–बुरे की पहचान करने, आत्मविश्लेषण, अस्मिता की तलाश, जीवन मूल्यों की खोज, मानवीय सरोकारों की पड़ताल आदि जैसे मूल्यों को अपने जीवन में आत्मसात कर अपने आप को समृद्ध बना रहा है।

संदर्भ सूची

1. डॉ. कुसुम लता मेघवाल, हिन्दी उपन्यासों में दलित वर्ग, संघी प्रकाशन, जयपुर, संस्करण वर्ष– 1989, पृ. सं.– 1
2. सं.– डॉ. एन. सिंह (सं.), दलित प्रवाह और साहित्य तटबन्ध– शिखर की ओर, संस्करण वर्ष–1997, पृ. सं.– 353
3. दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, ओमप्रकाश वाल्मीकि, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण वर्ष–2011, पृ. सं. –30

4. ओमप्रकाश वाल्मीकि, 'सलाम', राधाकृष्ण प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, संस्करण वर्ष– 2015, पृ. सं.– 17
5. वही, पृ. सं.– 16
6. http@@www-igntu-ac-in
7. ओमप्रकाश वाल्मीकि, 'सलाम', राधाकृष्ण प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, संस्करण वर्ष– 2015, पृष्ठ संख्या– 36
8. वही, पृष्ठ संख्या– 36
9. वही, पृ. सं. 118
10. ओमप्रकाश वाल्मीकि, 'घुसपैठिये', राधाकृष्ण प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, संस्करण वर्ष– 2016, पृष्ठ संख्या– 28
11. वही, पृष्ठ संख्या– 27
12. बजरंग बिहारी तिवारी, दलित चेतना का साक्षात्कार, बया पत्रिका, जनवरी–मार्च–2014, पृष्ठ संख्या– 84